RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-18, अंक-3, जून जुलाई अगस्त 2025

रासो
त्रैमासिक शोध पत्रिका
2005
॥ स्वस्ति पन्थामनु चरेम॥

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-18 | अंक - 3 | जून-जुलाई-अगस्त-2025

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टिट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** – पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** – प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** – प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** – पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** – पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** – सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** – पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** – आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** – पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

भारतीय ज्ञान परंपरा में प्राचीन काल में आधारभूत कलाओं का विवरण

उमेश कुमार

सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)

हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

भारतीय ज्ञान परंपरा में प्राचीन काल में आधारभूत कलाओं का विवरण अत्यंत विस्तृत और सूक्ष्म है। प्राचीन साहित्य में 64 कलाओं का उल्लेख मिलता है, जो केवल ललित कलाओं तक सीमित नहीं थीं, बल्कि इनमें सामान्य हस्तकलाएँ—जैसे बुनाई, कताई, गुड़िया बनाना—भी सम्मिलित थीं। ललित कलाएँ हस्तकलाओं से भिन्न हैं क्योंकि इनका उद्देश्य केवल वस्तु का निर्माण या उसकी उपयोगिता नहीं होता, बल्कि इनमें किसी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से भाव, सौंदर्य और संवेदना को व्यक्त करने का प्रयास किया जाता है।

वास्तुकला, शिल्पकला, चित्रकला और संगीत जैसी ललित कलाएँ विशेष महत्व की हैं। इनमें वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला को 'आधारभूत कलाएँ' कहा गया क्योंकि इन पर अन्य कलाएँ किसी न किसी रूप में आधारित रहती हैं। उदाहरण स्वरूप, किसी मूर्तिकला में संगीत, नृत्य, रंग, गहनों और वस्त्रों की कलाओं का संयोजन देखने को मिल सकता है। इस प्रकार, भारतीय ज्ञान परंपरा में कलाएँ केवल तकनीकी कौशल नहीं, बल्कि भावनात्मक और प्रतीकात्मक संवेदनाओं के सम्पूर्ण रूप के साथ जुड़ी हुई थीं।

वास्तुकला :

भारतीय वास्तुकला का अध्ययन केवल भवन निर्माण तक सीमित नहीं है, बल्कि यह समाज, संस्कृति और धार्मिक जीवन के गहन पक्ष से जुड़ा हुआ है। बरजेस की दृष्टि में वास्तुकला का अर्थ 'लकड़ी, पत्थर अथवा अन्य पदार्थों के द्वारा सुन्दर और अलंकृत भवनों का निर्माण करना' है, जो इंजीनियरिंग से भिन्न है। इसी प्रकार शिल्पकला और चित्रकला भी केवल वस्तु निर्माण नहीं, बल्कि सौंदर्य और भावनात्मक अभिव्यक्ति से संबंधित हैं।

प्राचीन भारत में राज्य और धार्मिक संस्थाएँ अलग थीं। धार्मिक संस्थाओं का कोई राजनीतिक अधिकार नहीं था और राज्य धार्मिक विचारों में हस्तक्षेप नहीं करता था। इस कारण विभिन्न धर्म और उपासना पद्धतियाँ स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में रहीं। हिन्दू धार्मिक प्रवृत्ति उनके व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक मन्दिरों, स्कूलों, पुस्तकालयों, विवाद-गृह, नाटकशालाओं और अन्नसत्रों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती थी।

मन्दिर केवल पूजा का स्थल नहीं थे, बल्कि सामाजिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक गतिविधियों के केंद्र भी थे। राज्य अपनी प्रबंधकीय जिम्मेदारियों का कुछ हिस्सा मन्दिर-प्रबंधकों को सौंप देता था। ये

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

संस्थाएँ शिक्षा, आर्थिक सहायता, स्वास्थ्य और सामाजिक कल्याण का कार्य करती थीं। आर्थिक सहायता निर्धनों और धार्मिक महात्माओं दोनों को दी जाती थी। मन्दिरों के प्रबंधकों को पूर्ण अधिकार प्राप्त थे और ये संस्थाएँ स्वतन्त्र रूप से कार्य करती थीं, जो सार्वभौम राज्य के भीतर स्वायत्त शासन की विशेषता दर्शाती हैं।

मन्दिरों से भिक्षाश्रय, धर्मशाला, औषधालय, अस्तपाल, विश्वविद्यालय आदि विकसित हुए। तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला, अमरावती आदि में उच्च शिक्षा और व्यावहारिक शिक्षा के केंद्र स्थापित थे। नालन्दा में धार्मिक, दार्शनिक, कला, चिकित्सा और कृषि शिक्षा दी जाती थी, जिसमें विदेशी विद्यार्थी भी आते थे। इस प्रकार मन्दिर और विश्वविद्यालय भारतीय समाज के शिक्षा और संस्कृति के केंद्र बने।

बौद्ध और जैन भिक्षु तथा संन्यासी स्त्रियों के लिए मठों का संगठन विशेष रूप से व्यवस्थित था। ये मठ निःशुल्क शिक्षा और सामाजिक सेवा प्रदान करते थे। समय के साथ ये संस्थाएँ धार्मिक संपत्ति के रूप में विकसित हुईं। चैत्यों और मठों की व्यवस्था ने समाज में सार्वजनिक शिक्षा और कल्याण के स्थायी साधन उपलब्ध कराए।

प्राचीन भारतीय वास्तुकला का विकास धार्मिक, सामाजिक और सार्वजनिक आवश्यकताओं के साथ गहराई से जुड़ा हुआ दिखाई देता है। गया से लगभग सोलह मील दूर स्थित बराबर पहाड़ी का चैत्यगृह इसका अत्यंत प्राचीन उदाहरण है, जहाँ 250 ईसा पूर्व के सम्राट अशोक के शिलालेख सुरक्षित हैं। इसी क्षेत्र में लोमश ऋषि का चैत्यगृह आज भी अपने मूल स्थापत्य रूप को सुरक्षित रखे हुए है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि उस काल में चट्टानों को काटकर गुफा-स्थापत्य निर्माण की परंपरा कितनी विकसित थी। पश्चिमी भारत में भाजा, विदिशा, नासिक, अजन्ता और एलोरा की गुफाएँ इस कला की पराकाष्ठा को दर्शाती हैं। अजन्ता की गुफाएँ संख्या 10, 19 और 26 तथा एलोरा की विश्वकर्मा गुहा न केवल स्थापत्य की दृष्टि से, बल्कि धार्मिक और कलात्मक दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

मठों का निर्माण भी इसी परंपरा का एक महत्वपूर्ण अंग था। मठ, जिन्हें संघाराम कहा जाता था, भिक्षुओं के निवास के लिए बनाए जाते थे। अजन्ता की गुफाएँ संख्या 2, 11, 17 और 76 इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त बाघ गुफाएँ, सालसिट की दरबान गुफा, नासिक का नहपना विहार, एलोरा और औरंगाबाद के मठ, खुदा, जमालगढ़ी और शाहधरी जैसे स्थानों में भी मठ स्थापत्य के उत्कृष्ट नमूने मिलते हैं। जैन समाज, जो संख्या में अपेक्षाकृत छोटा होते हुए भी आर्थिक रूप से समृद्ध रहा, दानगृहों, निःशुल्क पाठशालाओं, मंदिरों और संन्यासियों के लिए उदार दान देने के लिए प्रसिद्ध रहा है।

बौद्धों की भाँति जैनों ने भी ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से भिक्षु-गृहों और मंदिरों का निर्माण आरम्भ किया। उड़ीसा की उदयगिरि गुफाएँ, एलोरा की इन्द्रसभा, शत्रुञ्जय पर्वत, आबू पर्वत पर विमल और तेजपाल द्वारा निर्मित मंदिर, गिरनार का नेमिनाथ मंदिर, रणपुर, खजुराहो, घण्टाय और आदिनाथ मंदिर तथा चित्तौड़ का राणा कुंभा द्वारा निर्मित कीर्ति स्तम्भ जैन स्थापत्य की गौरवशाली परंपरा को दर्शाते हैं। दक्षिण भारत में श्रवणबेलगोला, मूलबद्रि मंदिर और गुरुवयंकरी मार्ग के स्तूप जैन वास्तुकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। आधुनिक काल में भी बुंदेलखंड का सोनागढ़ और अहमदाबाद का हथीसिंह मंदिर इस परंपरा की निरंतरता को दर्शाते हैं। अनेक जैन मंदिरों को बाद में मुस्लिम शासनकाल में मस्जिदों में परिवर्तित कर दिया गया, जिनके उदाहरण अजमेर का अधाई-दिन का झोंपड़ा, दिल्ली के निकट कुतुब परिसर, कन्नौज और धार आदि

स्थानों में मिलते हैं।

सार्वजनिक निर्माणों में जलाशयों का विशेष महत्व था। मोहनजोदड़ो का लगभग 3000 ईसा पूर्व निर्मित सार्वजनिक स्नानागार इस परंपरा का अत्यंत प्राचीन उदाहरण है, जो धार्मिक और सांसारिक दोनों प्रयोजनों से जुड़ा प्रतीत होता है। इसी परंपरा के अंतर्गत जूनागढ़ का विशाल जलाशय चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा बनवाया गया, जिसकी मरम्मत अशोक, रुद्रदामन और स्कंदगुप्त ने करवाई। इससे सिंचाई, कृषि और जनजीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होती रही। सम्राट अशोक ने सड़कों के किनारे कुएँ खुदवाए और वृक्षारोपण करवाया, जिससे यात्रियों और पशुओं को सुविधा मिलती थी।

बिहार और बंगाल में पाल और सेन वंशों के शासकों ने भी सैकड़ों जलाशयों का निर्माण कराया। उत्तर भारत और पूर्वोत्तर भारत में सड़कों के किनारे बने जलाशय यात्रियों और पशुओं के लिए उपयोगी थे। टिपरा और चटगांव क्षेत्र में तो आधे मील से लेकर कुछ मील की दूरी पर जलाशयों की श्रृंखला मिलती है, जो इन शासकों के व्यापक लोककल्याणकारी दृष्टिकोण को दर्शाती है। ये जलाशय आज भी स्वच्छ जल प्रदान करते हैं, जो आधुनिक नगरपालिकाओं के लिए भी एक आदर्श उदाहरण हैं।

वैदिक काल में यज्ञकूपों का निर्माण होता था, यद्यपि उनके स्थापत्य विवरण उपलब्ध नहीं हैं। रामायण में सभा-भवनों, सार्वजनिक उद्यानों, धर्मार्थ भिक्षागृहों और मंदिरों का उल्लेख मिलता है, जबकि महाभारत में राजकीय सभाओं और अतिथिशालाओं का वर्णन है। बौद्ध ग्रंथों में चट्टानों को काटकर बनाए गए हजारों मंदिरों और मठों का उल्लेख है, जिनके अवशेष आज भी अजन्ता, एलोरा, नासिक, बादामी, बाघ, कन्हेरी, कार्ले और अन्य अनेक स्थानों में देखे जा सकते हैं। इस प्रकार भारतीय वास्तुकला न केवल धार्मिक आस्था की अभिव्यक्ति है, बल्कि यह सामाजिक संगठन, शिक्षा, जल-प्रबंधन और लोककल्याण की एक समग्र परंपरा को भी सजीव रूप में प्रस्तुत करती है।

सारनाथ, भरहुत और विशेषत: साँची के स्तूप और चैत्य यह प्रमाणित करते हैं कि प्राचीन भारत में धार्मिक स्थापत्य का निर्माण अत्यन्त शीघ्रता से और व्यापक जनसहयोग से किया जाता था। इसके विपरीत बोरोबुदुर जैसे विशाल बौद्ध मन्दिर राज्य के संरक्षण, धन और संगठित श्रम-व्यवस्था की स्पष्ट झलक देते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध स्थापत्य में जनसहयोग और राज्याश्रय—दोनों का संतुलित समन्वय था।

हिन्दू मन्दिर स्थापत्य का उत्कृष्ट उदाहरण उड़ीसा का लिंगराज मन्दिर है, जिसका निर्माण परम्परा के अनुसार सातवीं शताब्दी में ललितेन्द्र केसरी ने कराया। प्रारम्भ में उड़ीसा के मन्दिरों में केवल विमान का निर्माण होता था, परन्तु बारहवीं शताब्दी में सोमवंशी शैव राजाओं के काल में जगमोहन, नटमण्डप और भोगमण्डप जैसे अंग जोड़े गये, जिससे मन्दिर सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों के केन्द्र बने।

इसी परम्परा का विकसित रूप पुरी के जगन्नाथ मन्दिर में दिखाई देता है, जिसे गंगवंश के राजा अनन्तवर्मा चोड़गंगदेव ने बनवाया। विशाल विमान, विस्तृत मण्डप और सहायक भवनों के कारण यह मन्दिर एक पूर्ण धार्मिक-सामाजिक परिसर का रूप ले लेता है। कोणार्क का सूर्य मन्दिर भी उड़ीसा शैली का भव्य उदाहरण है, जिसका निर्माण नरसिंहदेव प्रथम ने कराया।

मुस्लिम आक्रमणों के कारण उत्तरी भारत के अनेक प्राचीन मन्दिर नष्ट हुए। वाराणसी में मूल

विश्वेश्वर मन्दिर के स्थान पर मस्जिद का निर्माण हुआ और बाद में वर्तमान काशी विश्वनाथ मन्दिर बना। मथुरा-वृन्दावन क्षेत्र में गोविन्ददेव, मदनमोहन, गोपीनाथ और जुगलकिशोर जैसे मन्दिर बने, किन्तु इनमें से कई को क्षति पहुँची।

राजपूताना में अजमेर और आबू पर्वत हिन्दू और जैन स्थापत्य के प्रमुख केन्द्र रहे। अजमेर का अढ़ाई दिन का झोंपड़ा और आबू पर्वत के संगमरमर के जैन मन्दिर भारतीय स्थापत्य की उत्कृष्टता के प्रतीक हैं। संक्षेप में, स्तूप, चैत्य और मन्दिर भारतीय स्थापत्य में धार्मिक आस्था, जनसहयोग, राजकीय संरक्षण और कलात्मक उत्कर्ष के समन्वित रूप को प्रकट करते हैं।

उड़ीसा और उत्तरी भारत के मन्दिरों की भाँति ही राजपूताना, गुजरात और मध्य भारत के मन्दिर भी सार्वजनिक जीवन के केन्द्र के रूप में विकसित हुए। चम्बल के निकट बरोली के ध्वस्त मन्दिर में स्थित विवाह मण्डप इस तथ्य को दर्शाता है कि मन्दिर केवल पूजा-स्थल नहीं थे, बल्कि सामाजिक संस्कारों के भी प्रमुख केन्द्र थे। ग्वालियर में विष्णु मन्दिरों और एक समुदाय द्वारा निर्मित तेली के मन्दिर से यह स्पष्ट होता है कि मन्दिर निर्माण में राजा, समाज और विभिन्न जातियाँ समान रूप से सहभागी थीं।

खजुराहो चन्देल राजाओं की राजधानी रही, जहाँ लगभग 950 से 1050 ई0 के बीच निर्मित शैव, वैष्णव और जैन मन्दिर सामूहिक सहिष्णुता और धार्मिक समन्वय को प्रकट करते हैं। बड़े मन्दिरों के साथ छोटे-छोटे मन्दिरों का समूह यह दर्शाता है कि मन्दिर परिसरों में संगठित धार्मिक और सामाजिक जीवन विद्यमान था। इसी परम्परा के उदाहरण नागदा, सेवनार और चित्तौड़ में भी मिलते हैं, जहाँ शिव, विष्णु और जैन मन्दिरों के साथ सभा-भवनों की व्यवस्था थी। राणा कुम्भा जैसे शासक स्वयं हिन्दू होते हुए भी जैन स्थापत्य के उदार संरक्षक थे, जो उस युग की धार्मिक सहिष्णुता को दर्शाता है।

गुजरात, मालवा और पंजाब में भी मन्दिर निर्माण की परम्परा उतनी ही समृद्ध रही। अमृतसर का स्वर्णमन्दिर सिख परम्परा का प्रमुख केन्द्र बना, जो मूर्ति-पूजा के स्थान पर ईश्वरोपासना और सामूहिक प्रार्थना का स्थल रहा। इसके पुनर्निर्माण और अलंकरण में सिख गुरुओं और महाराजा रणजीतसिंह का विशेष योगदान रहा।

काश्मीर में मन्दिर स्थापत्य के अवशेष आज भी उस वैभव की झलक देते हैं। मार्तण्ड का सूर्य मन्दिर, जिसे ललितादित्य मुक्तपीड ने बनवाया था, अपने विशाल प्रांगण और स्थापत्य सौंदर्य के कारण सामूहिक मिलन-स्थल प्रतीत होता है। अवन्तीपुर, शंकरपुर और बुनियार के मन्दिर उत्पल वंश के शासनकाल की कला और धार्मिक परम्परा के साक्षी हैं। यद्यपि अनेक मन्दिर नष्ट हो गये, फिर भी उनके अवशेष यह सिद्ध करते हैं कि भारतीय मन्दिर स्थापत्य सामाजिक जीवन, धार्मिक सहिष्णुता और सांस्कृतिक चेतना का सशक्त माध्यम रहा है।

काँगड़ा घाटी के मन्दिर यह स्पष्ट करते हैं कि भारत में मन्दिर निर्माण केवल राजाश्रय का परिणाम नहीं था, बल्कि इसमें व्यक्तियों और व्यापारियों की भी सक्रिय भूमिका रही। वैद्यनाथ शिव का मन्दिर, जो काँगड़ा से पूर्व की ओर कीरग्राम में स्थित है, दो धनी व्यापारी भाइयों मान्युक और आहुक द्वारा जयचन्द्र के साले लक्ष्मणचन्द्र के शासनकाल में निर्मित कराया गया था। बाद में इसके संरक्षण और मरम्मत का दायित्व राज्य ने संभाला। इस मन्दिर की सादगीपूर्ण किन्तु सुदृढ़ रचना यह दर्शाती है कि धार्मिक आस्था के साथ-

साथ स्थापत्य संतुलन का भी ध्यान रखा गया था। नगर के पूर्वी छोर पर स्थित सिद्धनाथ मन्दिर, जिसे सम्भवत: सूर्य को समर्पित माना जाता है, काँगड़ा क्षेत्र की विविध धार्मिक परम्पराओं को प्रकट करता है।

नेपाल में आठवीं शताब्दी के लगभग बौद्ध धर्म के विकास के पश्चात् भी शैव, वैष्णव और बौद्ध परम्पराएँ समान रूप से प्रचलित रहीं। काठमांडू, पाटन और भटगाँव जैसे नगरों में मन्दिरों और मूर्तियों की अधिकता यह दर्शाती है कि वहाँ धार्मिक जीवन अत्यन्त सघन था, यद्यपि आर्थिक अभाव के कारण वैसी भव्यता नहीं दिखती जैसी भारत के अनेक मन्दिरों में मिलती है। परम्परा के अनुसार सम्राट अशोक ने इस क्षेत्र में पाँच चैत्य बनवाये थे, जिनके अवशेष आज भी पाटन और उसके आसपास विद्यमान हैं।

नेपाल के प्रमुख धार्मिक स्मारकों में स्वयंभूनाथ और बोधनाथ विशेष उल्लेखनीय हैं। स्वयंभूनाथ का निर्माण सत्रहवीं शताब्दी में हुआ, जबकि बोधनाथ का स्तूप छठी शताब्दी से सम्बद्ध माना जाता है और बाद में तिब्बती लामाओं द्वारा विकसित किया गया। नेपाल के बहुमंजिला मन्दिर, जो ब्रह्मा और चीनी स्थापत्य से साम्य रखते हैं, प्राय: शिव या विष्णु को समर्पित हैं। पाटन का महाबुद्ध मन्दिर बौद्ध स्थापत्य का विशिष्ट उदाहरण है, जिसमें विभिन्न मंजिलों पर बौद्ध दर्शन के विभिन्न रूपों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति मिलती है।

भटगाँव और पाटन के हिन्दू मन्दिर, ढालू छतों और पिरामिडनुमा संरचना के कारण विशिष्ट हैं। पाशुपतिनाथ का मन्दिर, जो बागमती नदी के तट पर स्थित है, नेपाल में उतना ही पवित्र माना जाता है जितना वाराणसी में विश्वनाथ मन्दिर। इसके चारों ओर स्थित छोटे मन्दिर और स्मारक धार्मिक आस्था और सामाजिक परम्पराओं से जुड़े हुए हैं। नेपाल की शासन-व्यवस्था में राजा को ईश्वर का अवतार माना जाता था, यद्यपि वास्तविक प्रशासन प्रधानमन्त्री के हाथों में रहता था। इस प्रकार काँगड़ा और नेपाल के मन्दिर न केवल स्थापत्य कला के उदाहरण हैं, बल्कि समाज, धर्म और राज्य-व्यवस्था के आपसी संबंधों को भी स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित करते हैं।

तिब्बत में बौद्ध धर्म शैव परम्पराओं और स्थानीय दैत्य-पूजा के साथ समन्वित रूप में विकसित हुआ। वहाँ के मठ केवल उपासना के केन्द्र नहीं, बल्कि विशाल आवासीय परिसरों के रूप में भी दिखाई देते हैं। मठों में चारों ओर छोटे-छोटे अहातों से घिरी कोठरियों की लम्बी पंक्तियाँ होती थीं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि ये स्थान मुख्यत: लामाओं के सामूहिक निवास के लिए बनाए गए थे। देपंग, सेरा और गण्डन जैसे मठों में हजारों लामा ब्रह्मचर्य व्रत लेकर राज्य और यात्रियों के दान पर निर्भर रहते थे।

तिब्बत का सबसे विशाल और प्रसिद्ध मठ पोटला है, जिसका निर्माण सत्रहवीं शताब्दी में प्रथम दलाई लामा ने कराया। यह मठ धार्मिक होने के साथ-साथ राजनीतिक और सामाजिक गतिविधियों का भी केन्द्र था। इसके भीतर मन्दिर, दर्शक-गृह, दलाई लामाओं के चैत्य, अतिथि-गृह और प्रशासनिक भवन स्थित थे तथा इसके चारों ओर छोटे मठों का समूह था। चीनी शैली के गुम्बदों से सुसज्जित इसकी छतें इसे अत्यन्त भव्य रूप प्रदान करती थीं।

समयास मठ, जिसकी स्थापना आठवीं शताब्दी में आचार्य पद्मसंभव ने की, भारतीय नालन्दा और विक्रमशिला की परम्परा पर आधारित था। यह मठ विशाल प्राचीर, विद्यालयों, पुस्तकालय और राजकीय कोष के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण केन्द्र बना। इसी प्रकार शाक्य, गण्डन, सेरा और देपंग मठों ने तिब्बत में

शिक्षा, धर्म और शासन के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध को सुदृढ़ किया।

इन मठों की स्थापत्य योजना, ऊँचे-नीचे क्रमबद्ध भवन, गुम्बद, स्तूप और प्रदक्षिणा-मार्ग भारतीय बौद्ध स्थापत्य की परम्परा की निरन्तरता को दर्शाते हैं। इस प्रकार तिब्बत के मठ केवल धार्मिक आस्था के प्रतीक नहीं, बल्कि सामाजिक संगठन, शिक्षा-प्रणाली और राज्य-व्यवस्था के संयुक्त केन्द्र के रूप में विकसित हुए।

दक्षिण भारत के मन्दिर स्थापत्य को मुख्यत: चालुक्य और द्रविड़ दो परम्पराओं में विभाजित किया जाता है। मैसूर और कन्नड़ प्रदेश के अनेक प्राचीन एवं भव्य मन्दिर कालक्रम में मुस्लिम आक्रमणों और दक्षिण के मुस्लिम राजवंशों के समय नष्ट हो गए, फिर भी गडग का सोमेश्वर, सोमनाथपुर का केशव, बेलूर और हालबीद के केदारेश्वर जैसे मन्दिर आज भी उस समृद्ध परम्परा के प्रमाण हैं। चालुक्य, काकतीय और होयसल शासकों ने 7वीं से 13वीं शताब्दी के बीच बड़ी संख्या में मन्दिरों का निर्माण कराया, जिनमें शिल्प-सौन्दर्य और सूक्ष्म नक्काशी विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

द्रविड़ शैली के मन्दिर मैसूर, हैदराबाद, उड़ीसा तट और दक्षिणी भारत में व्यापक रूप से फैले हैं। एलोरा का कैलाश मन्दिर, जो राष्ट्रकूट राजा कृष्ण प्रथम द्वारा चट्टानों को काटकर बनाया गया, द्रविड़ स्थापत्य का अद्वितीय उदाहरण है। इसके अतिरिक्त मामल्लपुरम् के रथ, पत्तदकल के विरूपाक्ष और संगमेश्वर मन्दिर, कांचीपुरम् का कैलाशनाथ तथा वैकुण्ठ पेरुमाल मन्दिर द्रविड़ परम्परा की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं।

द्रविड़ मन्दिरों में सबसे प्राचीन, भव्य और सुरक्षित उदाहरण तंजौर का बृहदीश्वर मन्दिर है, जिसे राजराजेश्वर भी कहा जाता है। यह विशाल शिवमन्दिर 985 से 1012 ई0 के बीच चोल सम्राट राजराज प्रथम ने बनवाया। केन्द्रीय मन्दिर की चौकी पर उत्कीर्ण प्राचीन तमिल लेख से स्वर्ण मूर्तियों, पात्रों और आभूषणों के दान का विवरण मिलता है, जो स्वयं राजराज और उसकी बहन कन्दवैयर द्वारा दिया गया था।

मन्दिर परिसर में दो विशाल आँगन हैं, जिनमें से एक 250 फीट का वर्गाकार आँगन मूलत: छोटे मन्दिरों और निवासों के लिए था, पर 18वीं शताब्दी में इसे तोपखाने के रूप में प्रयोग किया गया। प्रधान मन्दिर अत्यन्त विशाल है, जिसके ऊपर लगभग 190 फीट ऊँचा तेरह मंजिला पिरामिडाकार शिखर है। इसकी दृढ़ता और संतुलन द्रविड़ स्थापत्य की उत्कृष्टता को दर्शाते हैं।

इस मन्दिर की सबसे उल्लेखनीय विशेषता एक ही शिला से निर्मित विशाल वृषभ नन्दी की मूर्ति है, जो आकार और कलात्मक सौष्ठव की दृष्टि से अद्वितीय मानी जाती है। परिसर के अन्य छोटे मन्दिरों में सुब्रह्मण्य या कार्तिकेय मन्दिर को दक्षिण भारत की श्रेष्ठ निर्माण कला का उदाहरण कहा गया है। इसके विपरीत, तंजौर जिले का तिरुवेलूर स्थित वाल्मीकेश्वर मन्दिर कला की दृष्टि से अपेक्षाकृत दुर्बल माना जाता है। अचलेश्वर मन्दिर के अवशिष्ट भागों में राजराज प्रथम और राजेन्द्र चोल के लेख मिलते हैं, जो चोलकालीन स्थापत्य परम्परा की निरन्तरता को प्रमाणित करते हैं।

श्रीरंगम् का श्रीरंगनाथ मन्दिर दक्षिण भारत का सबसे विशाल वैष्णव मन्दिर है, जिसमें अनेक प्राकार, गोपुरम् और विशाल स्तम्भयुक्त भवन हैं। इसका विकास पाण्ड्य, विजयनगर और नायक शासकों के काल में हुआ, पर 18वीं शताब्दी में फ्रांसीसियों के हस्तक्षेप से इसका विस्तार रुक गया। इसके समीप जम्बुकेश्वर शिवमन्दिर अपनी उत्कृष्ट कला और मण्डप-गोपुरम् व्यवस्था के लिए प्रसिद्ध है।

चिदम्बरम् का नटराज शिवमन्दिर आकाशलिंग को समर्पित अत्यन्त पूज्य स्थल है, जिसमें विभिन्न सभाएँ, प्राकार और गोपुरम् क्रमिक शासकों द्वारा विकसित किये गये। यह मन्दिर दीर्घकालीन स्थापत्य विकास का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है।

रामेश्वरम् का शिवमन्दिर द्रविड़ स्थापत्य की भव्यता का प्रतीक है, विशेषत: इसके अत्यन्त लम्बे और ऊँचे स्तम्भयुक्त बरामदे प्रसिद्ध हैं। इसका निर्माण और विस्तार सेतुपति तथा रामनद के शासकों के संरक्षण में विभिन्न कालों में सम्पन्न हुआ।

रामेश्वरम् मन्दिर के प्रबन्ध को लेकर पंडरम् और रामनद के सेतुपतियों के बीच विवाद उत्पन्न हुआ, जिसमें प्रीवी कौंसिल ने सेतुपतियों के अधिकार अस्वीकार कर दिये। इसके फलस्वरूप मन्दिर का प्रबन्ध पूर्णत: प्रबंधक के हाथ में चला गया और राज्य ने धार्मिक प्रबन्ध को राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्त माना। यह घटना मन्दिर-प्रशासन की स्वायत्तता का एक असामान्य किन्तु महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

मदुरा का विशाल मीनाक्षी-सुन्दरेश्वर मन्दिर पाण्ड्य, विजयनगर और नायक शासकों के संरक्षण में विकसित हुआ। 13वीं शताब्दी में निर्मित यह मन्दिर मुस्लिम आक्रमणों से क्षतिग्रस्त हुआ, परन्तु बाद में पुन: हिन्दू पूजा का केन्द्र बना। तीरुमलाई नायक द्वारा निर्मित मण्डप, वसन्त मण्डपम् और भव्य गोपुरम् इसकी स्थापत्य समृद्धि को दर्शाते हैं। इस मन्दिर-परिसर पर अत्यधिक धन व्यय हुआ और यह दक्षिण भारतीय द्रविड़ स्थापत्य की पराकाष्ठा का प्रतिनिधित्व करता है। कुम्बकोनम् का गोपुरम् भी इसी परम्परा का उत्कृष्ट, यद्यपि आकार में छोटा, उदाहरण है।

तिरुनेलवेली का दोहरा मन्दिर शिव-पार्वती की संयुक्त उपासना का प्रतीक है, जबकि बेलूर का कल्याण-मण्डप मध्यकालीन दक्षिण भारतीय स्थापत्य की कलात्मक ऊँचाइयों को दर्शाता है। विजयनगर, यद्यपि 1565 ई0 में नष्ट हो गया, फिर भी अपने अवशेषों में अद्वितीय वैभव प्रकट करता है। यहाँ का विट्ठभ स्वामी विष्णु मन्दिर अपने विशाल आकार, संगमरमर निर्माण, स्तम्भयुक्त बरामदों और रथाकार ड्योढ़ी के कारण विशेष महत्त्व रखता है, यद्यपि यह अपूर्ण ही रहा।

विजयनगर के आसपास तदृपत्री और अहोवलम् के विष्णु मन्दिर कृष्णदेव राय और समकालीन शासकों की धार्मिक आस्था तथा स्थापत्य रुचि को प्रकट करते हैं। इसी परम्परा में उपवनयुक्त प्रासाद और मदुरा का तीरुमलाई नय्यक प्रासाद भारतीय भवन-निर्माण कला के प्रभावशाली उदाहरण हैं, जिनमें स्तम्भ, महराब, गुम्बद और शिखर का सफल समन्वय दिखता है। तंजौर और चन्द्रगिरि के राजभवन भी इस परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। फर्ग्युसन ने दक्षिण भारत की प्राचीन कला के अभाव पर खेद व्यक्त करते हुए आधुनिक राजप्रासादों को विदेशी शैली का अनुपयुक्त अनुकरण माना है।

लंका में पूर्ण मन्दिरों का अभाव है और वहाँ के अनेक प्राचीन अवशेष सार्वजनिक निर्माणों में नष्ट हो गये। फिर भी अनुराधापुर के विशाल स्तूप, विशेषत: अभयगिरि और जैतवनाराम, बौद्ध स्थापत्य की भव्यता के प्रतीक हैं। रूपनवेली, मीरिसवेतिया, थुपाराम और लंकाराम जैसे दागोबा विभिन्न शासकों के संरक्षण में बने और आज भी प्राचीन लंका की धार्मिक एवं स्थापत्य परम्परा की साक्षी के रूप में विद्यमान हैं।

प्राचीन पुलस्तिपुर अथवा पोलनरुवा में प्रकाराम बाहु के काल का जैतवनाराम मन्दिर, विशाल

बुद्ध प्रतिमा और अनेक दागोबा लंका की बौद्ध स्थापत्य परम्परा की उन्नत अवस्था को दर्शाते हैं। कीर्ति निस्संक मल्ल द्वारा निर्मित रानकोट दागोबा, सातमहल प्रासाद और जल-समीप स्थित गोलाकार भवन इस नगर की समृद्धि और दक्षिण भारतीय प्रभाव को प्रकट करते हैं।

ब्रह्मा (म्यांमार) की प्राचीन राजधानी पेगन, स्थापना से विनाश तक, पोलनरुवा के समान उत्कर्ष-अपकर्ष का उदाहरण है। यहाँ आनन्द, धम्मयांग्यी, गन्दाउपलिन और महाबोधि जैसे मन्दिर-पगोडा बहुमंजिली, सुसंगठित और प्रतीकात्मक स्थापत्य के श्रेष्ठ नमूने हैं। ब्रह्मा की स्थापत्य परम्परा में गोलाकार पगोडा, वर्गाकार मन्दिर, घंटाकार शिखर और अवशेषगृह का विशेष महत्त्व है, जिनका उत्कर्ष श्वे हेमान्दन और श्वे दायोन जैसे विशाल पगोडाओं में दिखाई देता है।

इसके अतिरिक्त थेइन (उपासनागृह) और पितकट ताइक (पुस्तकालय) जैसे भवन बौद्ध धार्मिक जीवन के संगठनात्मक पक्ष को प्रकट करते हैं। इस प्रकार लंका और ब्रह्मा के ये स्मारक एशिया में बौद्ध धर्म के प्रसार, राजाश्रय और स्थापत्य विकास की सुदीर्घ एवं समृद्ध परम्परा के साक्ष्य हैं।

श्याम अथवा थायस का देश 'पूर्व का वेनिस' कहलाता है, जहाँ बौद्ध स्थापत्य में बाट, फ्रा, फ्राचेदि और विहान जैसे रूप विकसित हुए। सुखोदय और आयोथिया के मन्दिरों में उपासना-गृह, स्तूप और सभा-भवन का सुव्यवस्थित संयोजन मिलता है, जिस पर ब्रह्मा और विशेषतः कम्बोडिया का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। लोफाबरी और बैंकाक के भवनों में यह प्रभाव और भी गहन है, यद्यपि आधुनिक काल में यूरोपीय अनुकरण ने स्थानीय कला-बोध को कुछ हद तक विकृत कर दिया।

कम्बोडिया में भारतीय कला से प्रेरित मन्दिर चार प्रमुख प्रकारों में विकसित हुए—साधारण अहातों वाले मन्दिर, पिरामिडाकार मन्दिर, संयुक्त रूप वाले विशाल नगर-मन्दिर और छोटे बहु-उपासना-गृहों वाले मन्दिर। आँगकार वाट और आँगकार थाम जैसे नगर-मन्दिर अपने विशाल आकार, सूक्ष्म शिल्प, बहुस्तरीय गोपुरों और जलाशयों के कारण एशियाई स्थापत्य की चरम उपलब्धियाँ माने जाते हैं। जलाशय न केवल धार्मिक आवश्यकताओं बल्कि कृषि और जीवन-व्यवस्था के लिए भी महत्त्वपूर्ण थे।

प्राचीन एशिया में बौद्ध एवं हिन्दू स्थापत्य का विकास श्रीलंका, ब्रह्मा (म्यांमार) और जावा में विशेष रूप से दिखाई देता है। पोलनरुवा (प्राचीन कलिंगपुर) में जैतवनाराम, रानकोट दागोबा और विशाल बुद्ध प्रतिमाएँ प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मा की राजधानी पेगन में आनन्द, धम्मयांग्यी, गन्दाउपलिन जैसे भव्य मन्दिर-पगोडा तथा श्वे हेमान्दन और श्वे दायोन जैसे विशाल स्तूप बने। जावा का बारोबदर विश्वप्रसिद्ध बहु-मंजिला विहार है, जिसकी शिल्पकला भारतीय प्रभाव दर्शाती है। इन स्थलों के ताम्रपत्र-लेख दान, मन्दिर-प्रबन्ध, धार्मिक कर्म और सामाजिक व्यवस्था का विस्तृत विवरण देते हैं, जिससे उस काल की धार्मिक-राजनीतिक संरचना स्पष्ट होती है।

उच्चकल्प वंश के शासकों ने 5वीं-8वीं शताब्दी में धार्मिक दानों की सुव्यवस्थित परंपरा स्थापित की। महाराज जयनाथ (493, 496 ई.) ने ब्राह्मणों को ग्रामदान देकर कर-मुक्ति, प्रशासनिक हस्तक्षेप से संरक्षण और मंदिर-व्यवस्था (विष्णु मंदिर, बलि-चारु-सत्र) सौंपी। महाराज सर्वनाथ (512-533 ई.) ने आश्रमक व अन्य ग्रामों का दान कर मंदिरों की मरम्मत, पूजा-सामग्री (चन्दन, धूप, दीप) की व्यवस्था जोड़ी। वल्लभी वंश के धारसेन द्वितीय (517 ई.) के दानों में भूमि-परिवर्तन, जल-समर्पण, पंचमहायज्ञ

और दान–अधिकारों की स्पष्ट शर्तें निर्धारित की गईं। शिलादित्य सप्तम (766 ई.) ने भी इसी परंपरा में आज्ञापत्र जारी किया। इन अभिलेखों से ग्रामदान, कर–व्यवस्था, उत्तराधिकार और राज्य–अहस्तक्षेप की स्पष्ट नीति प्रमाणित होती है।

इन अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में राजकीय दान एक सुव्यवस्थित वैधानिक प्रणाली के अंतर्गत दिए जाते थे। हर्षवर्धन, विजयसेन और वाकाटक शासकों के दानों में अग्रहार, ग्रामदान, कर–मुक्ति, सेवाओं की व्यवस्था तथा उत्तराधिकार के अधिकार स्पष्ट रूप से निर्धारित थे। चम्मक ताम्रपत्र जैसे दानपत्रों में दानग्राहियों के नैतिक आचरण, राज्यनिष्ठा और सामाजिक दायित्वों की शर्तें भी जोड़ी गईं। इससे दो प्रकार के दान उभरते हैं—एक, मन्दिरों और शैक्षिक संस्थाओं के लिए, जिनकी संपत्ति अपरिवर्तनीय थी; दूसरा, ब्राह्मणों और साधुओं के लिए, जो आचरणहीन होने पर वापस लिए जा सकते थे। समग्रत: मन्दिर केवल धार्मिक केंद्र नहीं थे, बल्कि सामाजिक, शैक्षिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन के प्रमुख आधार थे, जिनके माध्यम से राज्य और समाज का घनिष्ठ एवं उत्तरदायी संबंध प्रकट होता है।

मूर्तिकला :

भारत में मूर्तिकला स्थापत्य कला के साथ–साथ समृद्ध और विविध रूपों में विकसित हुई। मोहनजोदड़ो में मिली मूर्तियाँ प्रारंभिक कला का प्रमाण हैं, जबकि वैदिक काल में मूर्तियों का उल्लेख सीमित है। रामायण, महाभारत और बौद्ध ग्रंथों में मूर्ति निर्माण के संकेत मिलते हैं।

मौर्य पूर्वकाल में यक्ष और यक्षिणी की विशाल मूर्तियाँ (मथुरा, पटना, बेसनगर) यह दर्शाती हैं कि शिल्पी अत्यन्त कुशल थे और चट्टानों को काटने के यन्त्र विकसित हो चुके थे। ईसा पूर्व 250 के बाद अशोक के समय बौद्ध मूर्तिकला का उत्कर्ष हुआ। अशोक स्तम्भ, विशेषकर सारनाथ का स्तम्भ, एक ही पत्थर से निर्मित, पालिशयुक्त और कलात्मक रूप से उत्कृष्ट है। इसके शीर्ष पर पशु मूर्ति और चार सिंह तथा धर्मचक्र प्रतीक रूप से स्थापत्य और प्रतीकात्मक कला का अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

बौद्ध परम्परा में अशोक ने 84,000 स्तूपों का निर्माण कराया, जिनमें मुख्य स्तूप तो साधारण थे, पर उनके तोरणों पर बुद्ध के जीवन की कथाओं का सुंदर मूर्तिकला आधारित थी। भरहुत और साँची के स्तूप इस दृष्टि से विशिष्ट हैं। प्रो. वोगेल के अनुसार इसकी कला सहज, प्राकृतिक और बुद्ध के प्रति श्रद्धा से प्रेरित है।

पटना, बोधगया, उड़ीसा (धौली) और अन्य स्थल मौर्य–कला के उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। बुद्धगया, सारनाथ, लुम्बिनी और कुशीनगर में पत्थर पर खुदी हुई मूर्तियाँ, स्तूप और स्तम्भ बौद्ध कला की उत्कृष्टता दिखाती हैं।

कुषाण–युग (50–300 ई.) में बोधिसत्त्व की विशाल मूर्तियाँ, गुप्त–युग (300–600 ई.) में अवलोकितेश्वर, मैत्रेय और जातक कथाओं पर आधारित मूर्तियाँ बनीं। साथ ही जैन तीर्थंकरों और हिन्दू देवताओं (शिव, गणेश, विष्णु) की मूर्तियाँ भी बनाई गईं। विष्णु की मूर्तियों में चार भुजाएँ, मुकुट, माला, यज्ञोपवीत और पद्म एवं शंख दर्शाए गए हैं। सारनाथ की मूर्तियाँ उस समय के मूर्तिकला–शिल्प की चरम प्रवीणता का प्रमाण हैं।

मथुरा प्रथम शताब्दी से कुषाण राजाओं के अधिकार में आया और महायान सम्प्रदाय का प्रमुख

केन्द्र बन गया। यहाँ बुद्ध की मूर्ति-पूजा का प्रचार हुआ। प्रारंभ में मूर्तियाँ प्रतीकात्मक थीं, लेकिन बाद में भक्तों ने प्रत्यक्ष मूर्तियाँ बनवाना प्रारंभ किया। मथुरा शैली का प्रभाव दक्षिण भारत की अमरावती और उत्तर की गान्धार शैली पर भी पड़ा। मथुरा नगर और जिले में सैकड़ों मूर्तियाँ पाई जाती हैं, जिनमें स्तूप, तोरण और वेष्टनियाँ भी शामिल हैं। प्रारंभिक शिल्पी बुद्ध को प्रतीकात्मक रूप में अंकित करते थे।

मथुरा कृष्ण भक्ति का भी प्रमुख केन्द्र था। ब्राह्मण धर्म से संबंधित देवी-देवताओं के प्रारंभिक स्वरूप यहीं विकसित हुए। यहाँ शिव का एकमुखी लिंग, शिव और पार्वती का अर्धनारीश्वर रूप, सिंहवाहिनी दुर्गा, चतुर्भुज विष्णु, गज लक्ष्मी, चतुर्भुजा महिष मर्दिनी दुर्गा, वसुधारा और सूर्य प्रतिमा जैसी मूर्तियाँ मिलती हैं। स्तम्भों पर ऋषियों और यक्षिणियों का उत्कीर्णन हुआ है, साथ ही बहुमूल्य अलंकरण वाली पुरुष मूर्तियाँ और लौकिक जीवन के दृश्य प्रस्तुत करने वाली पकी मिट्टी तथा पत्थर की मूर्तियाँ भी मौजूद हैं।

गांधार शैली का विकास कुषाण राजा कनिष्क के शासन में हुआ। यह महायान सम्प्रदाय के प्रभाव वाला केन्द्र था और इसके माध्यम से भारत से बाहर पूर्वी तुर्किस्तान, मंगोलिया, चीन, कोरिया और जापान में यथार्थवादी शैली का प्रसार हुआ। ह्वेन-त्साङ्ग के 630 ई. में भारत भ्रमण के समय अधिकांश विहार ध्वंसावशेष मात्र थे, परन्तु सहस्रों मूर्तियाँ संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। कुल मिलाकर मथुरा और गान्धार दोनों ही कला और संस्कृति के प्रमुख केन्द्र रहे और समस्त भारत में बौद्ध मूर्ति कला का प्रसार मथुरा से हुआ।

गान्धार शैली में बुद्ध को मानवीय और अलौकिक रूप में अंकित किया गया। यद्यपि उनकी आकृति भारतीय परंपरा के अनुरूप है, इसमें यूनानी प्रभाव भी दिखाई देता है, जैसे एपोलो या डायनसिस जैसी छवि, वस्त्र की सिलवटें और प्रभामण्डल। इस शैली की मूर्तियाँ तिब्बत, चीन और जापान में भी पाई जाती हैं। यूनानी प्रभाव अंगूर की लताओं, उड़ते सर्प जैसे राक्षस, एकेन्थस की पत्तियाँ और कारिन्थियन स्तम्भों में दिखाई देता है। गान्धार मूर्तियों में यक्षराज, कृश-गात बुद्ध और बोधि वृक्ष के नीचे बैठे बुद्ध पर मार की सेना के आक्रमण जैसी प्रमुख कृतियाँ हैं।

गान्धार शैली में ब्राह्मण धर्म के देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी मिलती हैं। इसमें यूनानी और विदेशी प्रभाव के बावजूद मूर्तियों की आत्मा मूलतः भारतीय है। मूर्तियों में बुद्ध भारतीय आसन और मुद्रा में ध्यान करते दिखते हैं। कुषाण राजा कनिष्क के समय इसका अभ्युत्थान हुआ और पुरुषपुर में विशाल स्तूप बनवाया गया। मथुरा शैली की विशेषताएँ, जैसे घुँघराले बाल और दाहिने कंधे की भुजा, गान्धार मूर्तियों में भी देखी जाती हैं।

कृष्णा और गोदावरी नदियों के डेल्टे में बने कई स्तूप अब नष्ट हो चुके हैं, लेकिन कुछ बहुमूल्य मूर्तियाँ संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। प्रारंभिक मूर्तियाँ भरहुत शैली की हैं, जबकि अन्य मथुरा और गान्धार शैली का मिश्रण हैं। आन्ध्र राजाओं के शिलालेखों से स्तूपों की प्राचीनता और उनके अलंकृत स्तम्भों की ऊँचाई 9 फीट तक थी।

अमरावती और अन्य स्तूपों में बाड़ और स्तम्भों पर कमल, गुलाब और विचित्र चाल से चलते बौनों के साथ-साथ जातक कथाएँ और बुद्ध के जीवन से संबंधित घटनाएँ अंकित हैं। इन मूर्तियों में कल्पना और निर्माण कौशल के अद्वितीय उदाहरण मिलते हैं। मद्रास संग्रहालय की एक मूर्ति में क्रोधित हाथी और

भक्ति में झुके हाथी दोनों अंकित हैं, जिसमें भावों की अभिव्यक्ति अत्यंत सुन्दर है। राजसभा के दृश्य और युवकों-युवतियों के आनन्द के दृश्य भी प्रभावपूर्ण ढंग से अंकित हैं। कमल की चौकियों पर खड़े बुद्ध की मूर्तियाँ अमरावती, मथुरा और गान्धार तीनों जगहों पर पाई जाती हैं, और प्रभामंडलयुक्त बुद्ध भी तीनों शैलियों में अंकित हैं।

भारत के बाहर लंका, ब्रह्मा, जावा और तिब्बत में बौद्ध मूर्तियाँ और स्तूप व्यापक रूप से पाए जाते हैं। लंका में अनुराधापुर के स्तूप 800-1000 ई0 में बने थे, जिनमें जेतवनराम सबसे विशाल स्तूप है। यहाँ की मूर्तियाँ उत्कृष्ट कला के उदाहरण हैं, हालाँकि जातक कथाओं की संख्या सीमित है। जावा का बोरोबुदर स्तूप श्रीविजय साम्राज्य के शैलेन्द्र राजाओं द्वारा 8वीं शताब्दी में बनवाया गया और यह अपने आकार, अलंकरण और चारों ओर ध्यानी बुद्ध की सैकड़ों प्रतिमाओं के लिए अद्वितीय है। इसमें बुद्ध के जीवन और जातक कथाओं के दृश्य भी अंकित हैं। प्रोफेसर वोगेल ने इन मूर्तियों की प्रशंसा करते हुए लिखा कि ये सामान्य से कहीं उच्चकोटि की हैं और कुछ वास्तव में अनुपम हैं।

चान्दी मन्दुत और चान्दी पाओं में भी उच्चकोटि की बौद्ध मूर्तियाँ पाई जाती हैं, जिनकी भित्तियों पर बोधिसत्त्व की आकर्षक मूर्तियाँ और जातक कथाएँ अंकित हैं। प्रामबनन ग्राम में हिन्दू-काल के विशाल मन्दिर हैं, जिनमें ब्रह्मा, शिव और विष्णु की मूर्तियाँ हैं। पूर्वी जावा में हिन्दू देवताओं के अनेक मन्दिर हैं, जिनमें कई स्थानों पर मूर्तियों के नाम नागरी लिपि में खुदे हुए हैं।

प्रोफेसर वोगेल ने बोरोबुदर की मूर्तिकला की व्यापक प्रशंसा की और इसे अमूल्य बताते हुए कहा कि बुद्ध की गाथाओं और सिद्धांतों को इतनी विस्तृत रूप में मूर्तिमान् कहीं नहीं किया गया। जॉन मार्शल ने लिखा कि भारतीय कला को पूर्णतया समझने के लिए बौद्ध धर्म के उत्थान काल में मध्य एशिया, चीन, जापान, तिब्बत, ब्रह्मा और श्याम में फैली कलाकृतियों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। उन्होंने बताया कि हर देश में भारतीय कला स्थानीय प्रतिभा और वातावरण के प्रभाव से एक विशेष रूप और वेशभूषा में विकसित हुई।

7वीं से 14वीं शताब्दी तक का काल भारतीय कला का सबसे बड़ा सृजनात्मक युग माना जाता है, जिसकी नींव गुप्त-युग (300-600 ई.) में पड़ चुकी थी। इसी काल में 7वीं और 8वीं शताब्दी में एलोरा की विशाल गुफाएँ, कैलास मन्दिर सहित, बनाई गईं। इन गुफाओं और मन्दिरों में ब्राह्मण धर्म के देवी-देवताओं की मूर्तियाँ और रामायण, महाभारत, पुराणों की कथाएँ बड़ी चट्टानों को काटकर अंकित की गईं। पं. नेहरू ने अपनी पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' में इन कलाकृतियों की कल्पना और सृजनात्मकता पर आश्चर्य व्यक्त किया।

भारतीय मूर्तिकला का विकास गुप्त-काल में शुरू हुआ, जब वैदिक देवताओं की मूर्तियों के स्थान पर पौराणिक त्रिमूर्ति—ब्रह्मा, विष्णु, महेश—मुख्य रूप में अंकित होने लगीं। इन देवताओं के वाहन और अन्य देवताओं की मूर्तियाँ भी व्यापक रूप से बनीं। मध्यकालीन मन्दिरों में मूर्तियाँ अत्यंत सजीव, अलंकृत और वास्तविक दिखाई देती हैं। खजुराहो, मामल्लपुरम्, होलविद, बेलूर, माउण्ट आबू, मदुरा और त्रिचनापल्ली के मन्दिर इस कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

बौद्ध और जैन मूर्तिकला भी विशेष रूप से बुंदेलखंड, दक्षिण भारत, लंका और जावा में विकसित

हुई। श्रवणबेलगोला और पारसनाथ की विशाल जैन प्रतिमाएँ इसका प्रमाण हैं। इन मूर्तियों में शारीरिक सौष्ठव और आध्यात्मिक भावों का सुंदर समन्वय मिलता है। भारतीय मूर्तिकला का यह विकास शिल्पशास्त्र, विशेषकर मानसार, के नियमों पर आधारित था।

चित्रकला :

चित्रकला, मूर्तिकला की तुलना में अधिक सूक्ष्म और कोमल कला है, लेकिन भारत में मूर्तिकला और वास्तुकला की तुलना में इसके उदाहरण कम हैं। प्राचीन साहित्य में चित्रकला का उल्लेख मिलता है, जैसे रामायण में सीता की हिरण्यमयी प्रतिमा, जातक कथाओं में विस्तृत चित्रण, महाभारत में उषा की दासी चित्रलेखा, विनयपिटक में राजा पसनद के प्रासाद में चित्रागार, तथा लंका के रुवाँवली डगोवा की भित्तियाँ। कामसूत्र और स्वप्नवासवदत्तम् में भी चित्रकला का विवरण है, जिसमें चित्रों की यथार्थ अनुकृति का उल्लेख है।

चित्रकला का विकास लिपि के साथ निकट संबंध रखता है। मोहनजोदड़ो की लिपि (लगभग 3000 ई. पू.) इसके प्रारंभिक संकेत देती है। कैमूर पर्वत, सिंहगढ़ और मिर्जापुर की गुफाओं में शिकार के साधारण रेखांकित चित्र मिलते हैं, लेकिन इनमें भावाभिव्यञ्जना या वर्णों का प्रयोग नहीं है। पूर्ण विकसित चित्रकला के अवशेष सिरगुजा की जोगीमार गुफा में पाए गए हैं, जिनकी तुलना साँची और भरहुत की मूर्तियों से की जा सकती है, और इन्हें तृतीय शताब्दी का माना जाता है।

अजन्ता की गुफाओं के भित्ति चित्र द्वितीय से सप्तम शताब्दी के मध्य में बनाए गए। इन चित्रों के निर्माण में शासकों की आर्थिक सहायता संभवत: रही, लेकिन मुख्य कार्य बौद्ध कलाकारों ने ही किया। 200-700 ई0 के बीच बने इन चित्रों में चित्रकला का उच्च स्तर स्पष्ट है। चित्र मुख्यत: बौद्ध धर्म के नैतिक और आध्यात्मिक जीवन को व्यक्त करने के लिए बने, जिनमें बुद्ध के जीवन और जातक कथाओं का चित्रण शामिल है। 17 नम्बर की गुफा में राज्याभिषेक का दृश्य विशेष प्रभावशाली है, जिसमें सैकड़ों प्रकार के आभूषण दिखाए गए हैं।

अजन्ता की चित्रकला ने तत्कालीन खोतान और लंका की कला को प्रभावित किया। कई चित्रों में ईरानी और चीनी आकृतियाँ मिलती हैं, जो दर्शाती हैं कि चीनी कलाकार भी अजन्ता शैली में काम करते थे। 16 नम्बर की गुफा में मरणासन्न का चित्र कला के इतिहास में सर्वोत्कृष्ट माना गया है, जिसमें भावों और कथानक की अभिव्यंजना अद्वितीय है। अजन्ता के कलाकारों ने स्त्रियों को कुसुमों की कोमलता के साथ चित्रित किया और रेखाओं का प्रयोग अत्यंत पूर्ण तथा अनुभवपूर्ण है, जिससे इन चित्रों में चित्रकला के समस्त गुणों का समावेश मिलता है।

इतिहासकार तारानाथ के अनुसार आदिकालीन भारतीय चित्रकला की तीन प्रमुख शैलियाँ थीं। देव शैली मगध (आधुनिक उत्तर प्रदेश सहित) में छठी शताब्दी ई. पू. से तीसरी शताब्दी ई. पू. तक प्रचलित रही। यक्ष शैली अशोक के काल से राजस्थान और मध्य-उत्तर भारत में विकसित हुई और इसे कलाकार बिम्बसार ने स्थापित किया। नाग शैली 300 ई0 से पूर्वी भारत (वरेन्द/बंगाल) में प्रमुख रही, जिसमें धीमन और विटपाल श्रेष्ठ चित्रकार थे। इन तीनों शैलियों में अत्यंत यथार्थवादी चित्रकला देखने को मिलती थी।

7वीं शताब्दी के बाद चित्रकला का ह्रास हुआ। मुगल काल में अकबर ने चित्रकला को प्रोत्साहित

किया और समरकन्द एवं हेरात की शैली का अनुकरण कराया। फारसी और हिन्दू कलाकार, जैसे वासवन, दशवन्त और केशोदास, अकबर के दरबार में कार्यरत रहे। इस काल में भारतीय और विदेशी शैलियों का समन्वय हुआ, और चित्रकला मुख्यत: दरबारी जीवन को दर्शाने लगी। औरंगजेब के समय में संरक्षण बन्द होने से यह कला पतनशील हो गई।

17वीं शताब्दी से भारतीय चित्रकला में दो मुख्य शैलियाँ प्रकट हुईं—राजपूत शैली और पहाड़ी शैली। काँगड़ा शैली पहाड़ी चित्रकला की शाखा है, जिसमें अजन्ता की भित्तिचित्रों की संतति और भारतीय प्रतिभा स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। मध्यकालीन राजपूत चित्रकला के उदाहरण जोधपुर, बीकानेर और उदयपुर में मिलते हैं, जिनमें अलंकरण प्रमुख प्रवृत्ति है।

मुगलकाल में राजपूत शैली ने अच्छा विकास किया, लेकिन औरंगजेब के समय से राजकीय संरक्षण के अभाव में कुछ कलाकार पंजाब, जम्बू और काँगड़ा घाटी में आश्रय लेने गए। काँगड़ा शैली ने कच्छ और हिमालयी राज्यों में चरमोत्कर्ष प्राप्त किया। इस शैली में कोमल रेखाएँ, चमकीले रंग और विस्तृत अलंकरण सामग्री प्रमुख हैं। 19वीं शताब्दी में सिख दरबार में इसे संरक्षण मिला, परन्तु बाद में इसका पतन हुआ।

दक्षिण भारत में तौर और मैसूर स्कूल विकसित हुए, जो उत्तरी चित्रकला की संतति हैं। तौर स्कूल शिवाजी के शासनकाल में उत्कर्ष पर था और यहाँ हाथीदाँत और लकड़ी पर उत्कृष्ट चित्र बनाये गए। मैसूर स्कूल में व्यक्तियों के चित्रों का निर्माण हुआ। 19वीं शताब्दी के अंतिम दशक में अवनीन्द्रनाथ टैगोर के नेतृत्व में बंगाली चित्रकारों ने भारतीय चित्रकला का पुनरुद्धार किया। उन्होंने अजन्ता, मुगल और राजपूत शैलियों का अभ्यास कर नवीन शैली विकसित की, जिसमें भारतीय साहित्य और दर्शन के विषयों का चित्रण किया गया।

निष्कर्षत: मथुरा प्रथम शताब्दी से कुषाण राजाओं के अधीन बौद्ध मूर्तिकला का केन्द्र रहा, जहाँ स्तूप, तोरण और बुद्ध प्रतिमाएँ बनाई गईं। मथुरा शैली ने दक्षिण की अमरावती और उत्तर की गान्धार पर प्रभाव डाला। यहाँ केवल बुद्ध ही नहीं, बल्कि शिव, पार्वती, विष्णु, दुर्गा और सूर्य की प्रारंभिक मूर्तियाँ भी विकसित हुईं। गान्धार शैली कुषाण राजा कनिष्क के समय विकसित हुई और महायान सम्प्रदाय के प्रसार में महत्वपूर्ण रही। मथुरा और गान्धार दोनों ही प्राचीन भारत की मूर्तिकला और धार्मिक परम्परा के केन्द्र रहे, जिनका प्रभाव पूरे एशियाई क्षेत्र में फैला।

भारतीय मूर्तिकला और चित्रकला गुप्तकाल से विकसित हुई। मथुरा और गान्धार शैलियों ने बौद्ध मूर्तिकला को आकार दिया, जबकि मध्यकालीन मंदिर और जैन मूर्तियाँ अलंकरण और यथार्थता के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। अजन्ता की भित्ति चित्रों और राजपूत, काँगड़ा, मुगल शैलियों ने चित्रकला को समृद्ध किया। 19वीं शताब्दी में अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने इसे पुनर्जीवित किया।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *Prof. George Vogel, Indian Art and Architecture, Publication Indiana, Delhi, 1968*
2. *आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, रिपोर्ट, नई दिल्ली, 1957*
3. *Dr. H. Gardner, Buddhist Art in India, Indian Publication, Mumbai, 1972*
4. *Prof. S. R. Gupta, Early Indian Sculpture, Bharat Prakashan, Varanasi, 1965*
5. *Dr. Bernard Richardson, The Art of Mathura, Research Publication, New Delhi, 1970*
6. *Prof. A. F. Strone, Gandhara Art, British Museum Publication, London, 1960*
7. *Prof. Marcus Berg, Xuanzang and the Gandhara Legacy, International Publication, Paris, 1985*
8. *Dr. P. L. Bhatt, Buddhist Monuments of India, Prakashan House, New Delhi, 1975*
9. *Prof. Shriram Sharma, Early Hindu Iconography, Rajasthan Publication, Jaipur, 1962*